खण्ड ४

(१) केवलज्ञान महोत्सव
(२) गणधर संवाद
(३) तीर्थ स्थापना

केवलज्ञान महोत्सव

श्रमण महावीर की साढ़े बारह वर्ष की घोर तपस्या अब सिद्धि के द्वार पर पहुंच रही थी। प्रभु महावीर की क्षमा, सहनशीलता, सरलता, मृदुता अनुपम थी, कषायहीन थी। उनका तप किसी क्षुद्र उद्देश्य के लिए नहीं था क्योंकि उद्देश्य से किया गया तप मोक्ष का कारण नहीं बनता। उनका तप तो जन्म-मरण की परम्परा समाप्त कर, शाश्वत सुख के लिए था। उनकी साधना आत्मा से परमात्मा बनने की साधना थी। मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता का यह शिखर था।

प्रभु महावीर आत्म-साधना में लीन होते हुए जंभीय गांव पधारे। गांव के बाहर ऋजुबालुका नदीं बहती थी। प्रभु महावीर ने श्यामक नामक गाथापति के धान के खेत में गोदुहिका आसन ग्रहण किया। इसका वर्णन कल्पसूत्र में इस प्रकार आया है-

अनुत्तर ज्ञान, असीम दर्शन, उत्कृष्ट चरित्र, निर्दोष आश्रय, प्रशस्त विहार, अनन्त पराक्रम, सहजतम सरलता, विनम्रता, अनुपम लघुता, प्रशस्ति, शान्ति, अनुपम अपरिग्रह, चरम गुप्ति, शाश्वत प्रशन्नता तथा अनुत्तर सत्य, संयम, तप आदि गुणों से आत्मा को परिपूर्ण करके, सम्यक् आचरण करते हुए मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ते हुए भगवान को १२ वर्ष बीत गए। तेरहवें वर्ष के मध्य की गर्मी का दूसरा महीना था। चौथा पक्ष चल रहा था।

वैशाख शुक्ल दशमी के दिन जब छाया पूर्व की तरफ ढलने लगी थी। प्रमाणोपेत पौरूषी आ गई थी। सुव्रत नाम का दिन था। विजय मुहूर्त था। जंभिय गांव के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे खण्डहर बन रहे विजयावर्त चैत्य से न अधिक दूर न अधिक पास, श्यामक नामक गृहस्थ कृषक के खेत में शाल वृक्ष के नीचे भगवान महावीर गोदोहिका आसन में तपस्यारत व चरम एकाग्रपूर्व ध्यानमग्न थे।

प्रभु महावीर का निर्जल बेला चल रहा था। ऐसे में हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग आने पर श्रमण भगवान महावीर को अनंत, सर्वोत्कृष्ट, अव्याघात, निरावरण, समग्र तथा परिपूर्ण केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

(कल्पसूत्र १२०-१२३)

शास्त्रकार आगे कहते हैं-

तब श्रमण भगवान महावीर अर्हत् हुए, जिन हुए और केवलीज्ञानी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए।

भगवान महावीर अब देव, मनुज, असुराद के साथ-साथ संसार के सभी पर्यायों को जानने-देखने लगे। समस्त लोक में समस्त जीवों के आने, जाने, रहने, गिरने, उठने, विचार, मनःस्थिति, संकल्प भाव, भोग्य, कृत और सेवित भाव प्रकट तथा गुप्त कार्यों और कर्मों को भगवान महावीर जानने-देखने लगे। उनके अर्हत् हो जाने से उनके लिए रहस्य जैसा कुछ भी अनजाना नहीं बचा। उस समय सर्वलोकों में मन, वचन, काया की वृत्तियों में लगे सभी जीवों में सभी भावों को जानते-देखते अर्हत् महावीर विचरने लगे।

भगवान महावीर के केवलज्ञान से समस्त देवलोक व मनुष्यलोक में खुशी की लहर दौड़ गई। देव परम्परा को निभाते हुए देवों ने प्रथम समवसरण (धर्म सभा) की रचना ऋजुबालिका नदी पर की। इसमें केवल देव शामिल हुए। मनुष्यों के शामिल न होने के कारण तीर्थ की स्थापना न हो सकी। तीर्थंकर का

कोई उपदेश खाली नहीं जाता। हर उपदेश में कोई व्रत ग्रहण करता है। पर यह उपदेश बेकार गया किसी ने नियम व्रत ग्रहण नहीं किए। यह भी तीर्थंकर महावीर के जीवन की (अच्छेरा) आश्चर्यकारी घटना थी। इस प्रकार प्रभु महावीर अब अंतिम तीर्थंकर महावीर बन गए। केवली अवस्था का सुन्दर चित्रण उत्तर भारत प्रवर्त्तक भण्डारी श्री पद्मचन्द जी महाराज के शिष्य उपप्रवर्त्तक पूज्य श्री अमर मुनि जी ने तीर्थंकर चरित्र के पृष्ठ १५७ पर इस प्रकार किया है-

साधनाकाल के १२ वर्ष, ५ मास,१५ दिन बीत चुके थे। प्रभु महावीर विहार करते हुए ऋजुबालुका नदी के तट पर एक उद्यान में शाल वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हुए। उकडू आसन में बैठे। वैसाख महीने की कड़ी धूप में भी प्रभु (महावीर) शीतलता अनुभव करते हुए तन,मन, प्राणों को अकम्प सुस्थिर बनाकर शुक्लध्यान में लीन हो रहे थे। उनकी घनघानि कर्मों की श्रृंखला आवरण हटते ही सहसा केवलज्ञान, केवलदर्शन का लोकालोक प्रकाश-भास्कर उदित हो गया। प्रभु महावीर अब निश्चय दृष्टि से भगवान, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गए। केवलज्ञान होते ही कुछ क्षणों के लिए स्वर्ग-नरक और तिर्यक् लोक में प्रकाश सा फैल गया।

प्रथम धर्म-उपदेश में जिस समवसरण की देवों ने रचना की, उसका शब्दार्थ क्या है? समवसरण का जैनधर्म में क्या महत्व है? देव इसकी रचना कैसे करते हैं? इन बातों की चर्चा हम आगे करेंगे।

एक बात यहां स्पष्ट करना जरूरी है कि समवसरण तीर्थंकर अरिहंत केवली को ही प्राप्त होता है, सामान्य केवली को नहीं। समवसरण में ही अष्ट प्रातिहार्य, ३४ अतिशय शोभायमान होते हैं। यह देवताओं का कल्प है, परम्परा है कि तीर्थंकर का केवलज्ञान महोत्सव देवगण धूमधाम से मनाते हैं। फिर सारी आयु उनके लिए समवसरण की रचना करते रहते हैं।

समवसरण की सारी रचना तीर्थंकर की बाह्य शक्ति को प्रदर्शित करती है। सामान्य केवली तीर्थंकर की मौजूदगी में किसी प्रकार का उपदेश भी नहीं करते। वे तो आत्म-भाव में ही लीन रहते हैं। समवसरण का ऐसा वर्णन किसी अन्य धर्म में देखने को नहीं मिलता है।

समवसरण : रचना व स्वरूप

समवसरण वह स्थल है जिस स्थल पर तीर्थंकर प्रभु धर्म-उपदेश देते हैं। देखा जाए तो यह प्राचीनकाल की व्यवस्था है, जिसकी जिम्मेदारी मनुष्यों पर न होकर देवों पर होती है। समवसरण देवकृत है, जहां तीर्थंकर विराजते हैं। भगवान के पधारने से पहले देवता उसी की रचना कर देते हैं।

तीर्थंकर परमात्मा की सेवा में ६४ इन्द्र अपने भिन्न भिन्न रूपों में स्वयं रहते हैं। अन्य देवी-देवता अपने परिवार सहित धर्म उपदेश सुनते हैं। समवसरण में लाखों मनुष्य ही नहीं, अनगिणत पशु व देव भी आते थे। लगभग एक योजन (१२ किलोमीटर) के क्षेत्र में अनगिणत देवी-देवता के बैठने की व्यवस्था होती थी। उनके वाहन खड़े होने की व्यवस्था भी होती थी। तीर्थंकरों के दर्शन, चिन्तन और अनुप्रेक्षण करने की भावना, प्रतीति और सम्यक्त्व की स्पर्शना निर्मल एवं सुदृढ़ होती थी। वीतरागी के सान्निध्य में बैठकर उनके दर्शन प्रवचन से विभिन्न अतिशय अनुभव होते थे। शुभ भाव प्रकट होते थे। आपसी वैर-विरोध स्वयमेव समाप्त हो जाता था।

भगवती सूत्र २/२३-५/१११ और औपपातिकसूत्र ३४ में समवसरण में आने का फल बताया गया है। गणधर गौतम कहते हैं- "हे देवानुप्रिय! यह हमारे लिए महाफल का कारण है। तथारूप अरिहंत

भगवंतों का नाम गोत्र सुनना भी महाफल रूप है फिर उनके सम्मुख वन्दना, नमन, परिपृच्छा (प्रश्न पूछना), पर्युपासना का तो कहना ही क्या? तीर्थंकरों का एक भी सुवचन का श्रवण बहुत बड़ी बात है। उनका वंदन, नमनादि इस भव में, पर-भव में, जन्म-जन्मांतर में हमारे लिए हितकर, सुखकर, शांतिप्रद, निःश्रेयस्प्रद मोक्षप्रद होगा। समवसरण तीर्थंकर परमात्मा की धर्म परिषद् है। सम्यक् रूप से एक जगह जहां मिलना हो उसे समवसरण कहते हैं।

समवसरण रचना-प्रतिरूप

जिस ग्राम, नगर या क्षेत्र में अभूतपूर्व समवसरण की रचना देवों द्वारा करनी होती है, वहां वे देव पहले महाऋद्धिक देव अभियोग्य देवों को सूचित करते हैं। तब वह अभियोग्य देव एक योजन परिमंडल भूमि की संवर्तक वायु को साफ और समतल कर देते हैं। फिर सुगन्धित जल से वर्षा करते हैं। फिर इस भूमि को सुगन्धित करने के लिए पुष्ट-वृष्टि करते हैं। तत्पश्चात् व्यन्तर देव चारों दिशाओं में मणि, कनक और रत्नों से जटित (मुख्य द्वार) बनाते हैं। उन द्वारों पर छत्त, स्तम्भ पूतिलका मकर सुख-ध्वज और स्वस्तिकादि चिन्हों की रचना करते हैं। फिर सुरेन्द्र जाते हैं। अपनी शक्ति से रत्नों के तीन श्रेष्ठ परकोटे बनाते हैं जो मणिकांचन के कंगूरों द्वारा सुशोभित होते हैं।

इनमें पहला परकोटा चांदी का होता है जो भवनपति देवों के इन्द्र बनाते हैं, मध्य वाला परकोटा सोने का होता है जो ज्योतिष्क देवों के देवेन्द्र बनाते हैं और अन्तरंग का परकोटा रत्नमय होता है जिसकी रचना वैमानिक देवेन्द्र करते हैं। इन तीनों परकोटों पर ये देव स्वर्ण-रत्न मणियों के कंगूरे बनाते हैं तथा सारे रत्नों के द्वार भवनपति देव बनाते हैं। फिर चारों ओर सभी दिशाओं में अगरू, चन्दन आदि की मनोरम गन्ध से बनी धूप की धूपदानी व्यन्तर देव स्थापित करते हैं।

इतनी रचना करने के बाद ईशानदेव रत्नमय, आभ्यन्तर प्रकार के मध्य देश भाग में भगवान के शरीर से १२ गुणा ऊंचा श्रेष्ठ अशोक वृक्ष की उत्पत्ति करते हैं। उससे नीचे सर्वरत्नमय पीठ बनाते हैं। पीठ के ऊपर चैत्य वृक्ष फिर उसके नीचे देवच्छंदक का निर्माण करते हैं। उसके आभ्यन्तर पादपीठ सहित मणि सिंहासन का निर्माण करते हैं। उस पर क्रमशः तीन छत्र स्थापित करते हैं। सिंहासन के दोनों ओर बलेन्द्र और चामर देव चामर हाथ में लेकर खड़े रहते हैं।

व्यन्तर देव सिंहासन के आगे कुछ दूरी पर धर्मचक्र स्थापित करते हैं। तीर्थंकर प्रभु के चरणों में आने वाले सभी देव उत्कृष्ट हर्ष भाव से प्रेरित होकर सिंहनाद करते हैं। ऐसा नियम है कि जिस समवसरण में सभी देवेन्द्र आते हैं वहां इस प्रकार समवसरण की रचना उक्त प्रकार से अलग-अलग देव करते हैं पर जहां विशिष्ट ऋद्धिपति, इन्द्र सामानिक आते हैं, वहां परकोटों आदि की रचना वे नहीं करते हैं। यदि वे नहीं तो भवनपति आदि दूसरे देव समवसरण की रचना करते भी हैं, नहीं भी करते हैं।

तीर्थंकर के समवसरण में प्रवेश की मर्यादा

इस समवसरण में तीर्थंकर यदि प्रथम पौरूषी अथवा पिछली पौरूषी में आ रहे हो, उस समय वे पूर्व दिशा से प्रवेश करते हैं। वे सारे रास्ते देवों द्वारा निर्मित कमल पर चलते हैं। भगवान के आगे और पीछे ७ कमल स्थापित रहते हैं। तत्पश्चात् भगवान पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा कर पूर्व दिशा में मुख करके बैठ जाते हैं।

शेष तीन दिशाओं में देव अपनी शक्ति से तीर्थंकर की प्रतिमाएं स्थापित करते हैं। लोगों को चारों

ओर भगवान दिखाई देते हैं। भगवान के पादमूल (चरणों के पास) में ज्येष्ठ गणधर प्रणाम करके बैठ जाते हैं। सभी गणधर दक्षिण-पूर्व विदिशा में भगवान से न अतिदूर न अतिनिकट वन्दन करके बैठते हैं। फिर केवली और अतिशय ज्ञानी मुनि पूर्व द्वार से तीन बार प्रदक्षिणा कर गणधरों के पीछे बैठ जाते हैं। इनके पीछे मनः पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, १४ पूर्वधर आदि पूर्व द्वार से आते हैं, प्रभु को वन्दना करके अतिशयधारी साधु के साथ बैठ जाते हैं।

इसके पश्चात साध्वियां पूर्व द्वार से प्रवेश करती हैं। प्रभु समेत सभी को वन्दन करती हैं। वे वैमानिक देवों के पीछे श्रद्धावश खड़ी हो जाती हैं, बैठती नहीं हैं। उनके पीछे वैमानिक देवियां पूर्व द्वार से आकर भगवान समेत सभी मुनिजनों को वन्दन कर खड़ी रहती हैं। फिर भवनपति देवियां, व्यन्तर देवियां और ज्योतिष देवियां द्वार से प्रविष्ट हो दक्षिण-पश्चिम दिशा में क्रमशः खड़ी रहती हैं। वे भी तीर्थंकर व मुनियों को वन्दन करके अपने स्थान पर खड़ी रहती हैं। फिर पश्चिम द्वार से भवनपति, ज्योतिष और व्यंतर देव प्रभु की प्रदक्षिणा और वन्दना करतेहैं फिर अन्य साधु वन्दना कर क्रमशः एक के पीछे एक बैठ जाते हैं।

उत्तर द्वार से वैमानिक देव, मनुष्य-पुरूष और स्त्रियां भगवान को तीन बार प्रदक्षिणा कर वन्दना-नमस्कार करते हैं। वे उत्तर-पूर्व दिशा में बैठते हैं। सभी अपने नियत स्थान पर बैठते हैं। आगे वैमानिक देव बैठते हैं, उनके पीछे मनुष्य फिर स्त्रियां।

इन देवों व मनुष्यों की एक मर्यादा भी है कि अगर अल्प ऋद्धि वाला देव पहले बैठा है, तो महर्द्धिक देव उन्हें प्रणाम करते हैं। अगर महाऋदिक देव समवसरण में हो तो अल्प ऋद्धि वाला बैठता है। पूर्व आदि चारों दिशाओं में सोम, यम, वरूण व कुबेर देव पहरा देते हैं। समवसरण में सभी जीव अपने परस्पर के वैर भूल जाते हैं। किसी प्रकार का भय नहीं होता। यह प्रथम परकोटे का वर्णन है।

समवसरण का दूसरा व तीसरा परकोटा

समवसरण के दूसरे परकोटे में सभी प्रकार के पशु-पक्षी बैठते हैं। ये सभी पंचेन्द्रिय होते हैं। परकोटे के अंदर-बाहर तिर्यंच जीव बैठते हैं। तीसरे प्रकार के निचले विभाग में देव व मनुष्यों के वाहन खड़े होते हैं। इसके बाहर खुली जगह में तिर्यक् (पशु), मनुष्य व देव भी होते हैं। वे कभी-कभी तीनों मिलकर समवसरण में प्रवेश करते हैं, निकलते हैं। इतनी भीड़ होने पर भी वहां शोर का नामोनिशान दिखाई नहीं देता। किसी भी प्रकार की मैं-मैं, तू-तू जैसी शब्द सुनाई नहीं देते। समवसरण की जैनधर्म में बहुत महिमा है। जिस मुनि ने पहले समवसरण नहीं देखा, वह बारह योजन चलकर समवसरण में आता है। समवसरण के प्रभाव से १२-१२ योजन में साधु समवसरण में प्रभु दर्शन व उपदेश ग्रहण करने आते हैं। अगर कोई समवसरण में नहीं आता तो उसके व्यवहार, सम्यक् दर्शन में चल, मल और अगाढ़ दोष की संभावना होने से उसकी शुद्धि में चार उपवास का प्रायश्चित है।[1]

समवसरण में प्रभु का रूप अतिशय सुन्दर होता है। इसके बारे में शास्त्रकार ने एक उदाहरण दिया है- "अगर समस्त देवलोक के देव भी सम्पूर्ण वैक्रिय शक्ति से ऐसा रुप बनाना चाहें, तो वह प्रभु के अंगूठे का रूप भी नहीं बना सकते। शरीर बनाना तो दूर की बात है।

समवसरण में तीर्थंकर परमात्मा के नामकर्म उदय से सभी लोग धर्माचरण करते हैं, प्रतिबोध पाते हैं, त्याग करते हैं, साधु या श्रावक दीक्षा ग्रहण करते हैं। शास्त्रकार कहते हैं- "भगवान का उत्कृष्ट रूप

देखकर सबका अहंकार गल जाता है। इन सब कारणों से प्रभु महावीर का रूप प्रशंसनीय है।"[२]

समवसरण में उपदेश करने से पहले प्रभु विनयपूर्वक साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूपी तीर्थ को वन्दन करते हैं। वे अर्ध-मागधी भाषा में उपदेश करते हैं, जिससे उनका उपदेश पशु तक अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। तीर्थंकर की वाणी ३५ गुणों से युक्त कही गई है। तीर्थंकर का उपदेश एक योजन तक दसों दिशाओं में सहज सुना जा सकता है। समवसरण में १२ प्रकार की परिषद होती हैं। तीर्थंकर का उपदेश कभी खाली नहीं जाता। उनके उपदेश का प्रभाव मन पर इस प्रकार जम जाता है कि उनकी वाणी के प्रभाव से लोग यथा-शक्ति व्रत ग्रहण करते हैं। तिर्यंच व देव को छोड़ सभी मानव कुछ न कुछ उपदेश अमृत का फल पाते हैं।

तीर्थंकर समवसरण में प्रथम पहर उपदेश देते हैं। फिर अपनी धर्मकथा को सम्पन्न कर उत्तर द्वार से प्रथम परकोटे से निकलकर द्वितीय परकोटे के अंदर पूर्व दिशा में स्थित देवच्छन्दक में विराजित होते हैं। दूसरे प्रहर में गणधर धर्मकथा करते हैं, भगवान नहीं। गणधर या तो राजा आदि द्वारा समवसरण को भेंट किए सिंहासन पर बैठकर कथा करते हैं या तीर्थंकर सिंहासन के पादपीठ पर। गणधर तीर्थंकरों के उपदेशों को दोहन करते हैं। श्रोताओं द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं। समवसरण में सभी जीवों को सुनने के लिए कुछ न कुछ मिलता है।

nn

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति ५६४

२. आवश्यकनिर्युक्ति ५७४

गणधर संवाद

सभी आचार्यों ने प्रभु महावीर की प्रथम देशना को असफल जाना आश्चर्य माना है। भगवान महावीर ने भी एक क्षण उपदेश दिया था। फिर वे मौन हो गए। पर महावीर चरियं में आचार्य गुणचन्द्र इसमें मानव की उपस्थिति मानते हैं। शीलांकाचार्य ने तो ११ गणधरों की दीक्षा प्रथम देशना में दिखाई है। आचार्य देवेन्द्र मुनि जी महाराज आगमों के आधार पर इस बात से सहमत नहीं हैं। प्रस्तुत खण्ड में हम तीर्थंकर काल की प्रथम घटना का वर्णन करने जा रहे हैं।

ग्यारह गणधर व उनका संक्षिप्त परिचय

जैनधर्म में ११ गणधरों का बहुत महत्त्व है। ये महापुरूष अपनी परम्परा के सिद्धहस्त विद्वान् व अध्यापक थे। उन दिनों मध्यम पावा में एक विशाल यज्ञ का आयोजन सोमिल ब्राह्मण के द्वारा किया गया। इसमें इन्द्रभूति आदि ११ गणधर व उनके शिष्य शामिल थे। यहां एक बात स्पष्ट करना जरूरी है कि गौतम एक ब्राह्मण-क्षत्रिय गोत्र है। इन्द्रभूति उनका नाम है। इस नाम के जैन परम्परा में कई व्यक्ति हुए हैं। महात्मा बुद्ध को भी गौतम बुद्ध कहते हैं। गौतम नाम के ऋषि वैदिक परम्परा में भी हुए हैं। विदेशी लेखकों ने इसी भ्रमवश महावीर व बुद्ध को एक मान लिया था। इन्द्रभूति गौतम का जन्म स्थान नालंदा के पास का गोबरग्राम था। उनके अग्निभूति व वायुभूति विद्वान भ्राता थे। इन सभी के ५००-५०० विद्यार्थी शिष्य थे, जो वेद, वेदांग, पुराण व इतिहास सीखते थे। वे गुरूकुल में रहकर अपना अध्यापन सम्पन्न करते थे। इनकी माता पृथ्वी व पिता वसुभूति थे।

व्यक्त व सुधर्मा नाम के दो वैदिक विद्वान कोल्लाक सन्निवेश के रहने वाले थे। व्यक्त का गोत्र भारद्वाज था और सुधर्मा का अग्नि वैश्यायन। इनके भी ५००-५०० शिष्य थे। सुधर्मा की माता भद्दिला और पिता धम्मिल थे। व्यक्त की माता वाराणी व पिता धनमित्र थे। यज्ञ में मण्डित व मौर्यपुत्र-मौर्य सन्निवेश में आए थे। मण्डित का वशिष्ट गोत्र था और मौर्यपुत्र का काश्यप गोत्र। दोनों के ३५०-३५० शिष्यों का परिवार था। मण्डित की माता विजयादेवी और पिता धनदेव थे। दोनों भाई थे। अकम्पित, अचलभ्राता, मैतार्य, प्रभास नाम के चार विद्वान भी उस सभा में थे, जो क्रमशः मिथिला, कौशल, तुंगिया (कौशाम्बी) व राजगृह से आए थे। अकम्पित का गोत्र गौतम व अचलभ्राता का हारित था। मैतार्य व प्रभास का गोत्र कौण्डिन्य था। इन सभी के ३००-३०० छात्र थे। अकम्पित की माता जयन्ती व पिता देव थे। अचलभ्राता की माता का नाम नन्दा और पिता वसुदेव थे। मैतार्य की माता वरूणादेवा व पिता पन्त थे। प्रभास जी की माता का नाम अतिभद्रा व पिता बल थे। सभी गणधरों की आयु प्रभु महावीर के समवसरण में दीक्षा ग्रहण करने से पहले क्रमशः इस प्रकार थी-५०,४६, ४२,५०,५०,५३,६७,४८,४६,३६,१६ वर्ष थी।

जिस समय प्रभु महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, तो उनकी आयु ४२ वर्ष की थी। मैतार्य और प्रभास को छोड़ सभी गणधर प्रभु महावीर से आयु में बड़े थे। सभी कुलीन ब्राह्मण परिवारों से सम्बन्धित क्रियाकाण्डी ब्राह्मण थे। प्रथम और पांचवें गणधरों को छोड़ सभी गणधर प्रभु महावीर के जीवनकाल में मोक्ष पधार गए। यह गणधरों का संक्षिप्त परिचय है। हम गणधरों व प्रभु महावीर में हुई धर्मचर्चा की

बात करेंगे क्योंकि इसी धर्मचर्चा के बाद ही धर्मतीर्थ की स्थापना हुई थी।

सभी गणधर अध्यापक तो अच्छे थे, पर गुरू नहीं बन पाए थे। वे पढ़ा सकते थे, पर पढ़ते हुए जो उनके मन में शंका उत्पन्न हो चुकी थी, उसके निराकरण के लिए उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। इस शंका को निवारण न करने का कारण था उनका जातिमद। वे समझते थे ब्राह्मण को ब्रह्म ने स्वयं उत्पन्न किया है। ब्राह्मण कभी गलत नहीं हो सकता। वह त्रैलोक्य पूज्य है। वेद को पढ़ने पढ़ाने का उसका अधिकार है। हर तरह की शिक्षा पर उसका अधिकार है। धर्मग्रन्थों की व्याख्या मनमाने ढंग से करने में वह स्वतन्त्र है। वह नए ग्रन्थ अपनी सुविधा के अनुसार लिखने के अधिकारी है। क्षत्रियों के वह प्रधानमंत्री थे। यह ब्राह्मणवाद ही था, जिसने भारत के जनमानस की आत्मा को अज्ञान के बन्धनों से इतना जकड़ रखा है कि आज तक हम ब्राह्मणवाद के विरोध में कोई शब्द कहना पाप समझते हैं।

पर प्रभु महावीर क्षत्रिय थे उन्हें कोई भय नहीं था। वह अज्ञानतम मिटाने आए थे। उनका क्रान्तिकारी जीवन का पहला दिन ऐसा सौभाग्यशाली था कि संसार के किसी महापुरूष को ऐसा सौभाग्य नहीं मिला। प्रभु महावीर की लड़ाई ब्राह्मण के विरोध में नहीं थी। उनका संघर्ष ब्राह्मणवाद के विरोध में था। ब्राह्मणवाद की आड़ में क्षत्रिय को छोड़ सभी वर्ण न्यून रह गए थे। वैश्य भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता था। कृषक, मजदूर, दलित, शूद्र, स्त्री जाति की कोई पुकार सुनने वाला नहीं था। धर्म के नाम पर हिंसा का बोलबाला था। वह दिन भी आया, जब एक नहीं ४,४४० ब्राह्मणों ने एक दिन ही प्रभु महावीर के चरणों में स्वयं को समर्पण कर दिया। यह क्रान्तिकारी उपदेश का प्रभाव था। यह क्रान्ति क्यों और कैसे घटी? इसके बारे में हम शास्त्रों के आधार पर चर्चा करेंगे। यहां इतना निवेदन करना चाहते हैं कि इन्ही गणधरों में प्रथम इन्द्रभूति गौतम प्रभु महावीर के धर्मतीर्थ के प्रमुख साधु कहलाए। परन्तु आज पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी की वाचना ही उपलब्ध है। आज श्वेताम्बर जैन साहित्य में गणधर सुधर्मा का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्हीं की कृपा से प्रभु महावीर का उपदेश सुरक्षित रह सका। उन्होंने जो प्रभु से सुना, वह अपने शिष्य अन्तिम केवली जम्बू स्वामी को सुनाया। सभी गणधरों के मन में स्वाध्याय करते हुए कुछ शंकाओं ने जन्म ले लिया था। प्रभु महावीर ने इन शंकाओं का इन्हीं की मान्यतानुसार निराकरण किया। वे शंकाएं क्या थीं इसका विवरण इस प्रकार है-

(१) प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम की आत्मा के बारे में शंका थी।
(२) दूसरे गणधर अग्निभूति को कर्म-सिद्धान्त के प्रति शंका थी।
(३) तीसरे गणधर वायुभूति को आत्मा व शरीर के बारे में शंका थी।
(४) चतुर्थ गणधर व्यक्त के मन में पांच भूत आदि तत्त्वों के प्रति शंका थी।
(५) पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी के मन में इहलोक व परलोक के प्रति शंका थी।
(६) छठे गणधर मण्डित के मन में बंध और मोक्ष के बारे में शंका थी।
(७) सातवें गणधर मौर्यपुत्र के मन में देवों के अस्तित्व के बारे में संदेह था।
(८) आठवें गणधर अकम्पित के मन में नरक के बारे में संदेह था।
(९) नौवें गणधर अचलभ्राता के मन में पुण्य व पाप तत्त्वों के बारे में संदेह था।
(१०) दसवें गणधर मैतार्य के मन में परलोक के बारे में संदेह घर कर चुका था।
(११) ग्यारवें गणधर प्रभास के मन में मोक्ष के बारे में संदेह था।

ये सभी प्रश्न ऐसे हैं जो आस्तिक व नास्तिक जगत में भेद-रेखा खींचते हैं। इन ब्राह्मण विद्वानों को प्रभु

महावीर ने अनुपम ढंग से प्रभावित किया था। यह प्रभाव अहिंसा का था, जोर-जबर्दस्ती का नहीं था।

प्रभु महावीर का पावापुरी पधारना और इन्द्रभूति का समाधान

प्रभु महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन चुके थे। उन्होंने अपने ज्ञान के बल से जाना कि पावापुरी में एक विशाल यज्ञ का आयोजन हो रहा है, जिसमें हजारों क्रियाकाण्डी ब्राह्मण सम्मिलित हो रहे हैं। मुझे तीर्थंकर गोत्र के उदय के कारण जगत् के जीवों के कल्याणार्थ तीर्थ की स्थापना करनी है। मेरे पावापुरी जाने से जन-साधारण को अभूतपूर्व लाभ होगा।

इस भाव से प्रभु महावीर ने मध्यम पावापुरी की ओर विहार किया। वहां धनवान ब्राह्मण सोमिलाचार्य का यज्ञ चल रहा था। समवसरण की रचना के कारण आकाश में विमान द्वारा देव-देवियों का आगमन हो रहा था। इन्द्रभूति गौतम इस यज्ञ का मुख्य पुरोहित था। इसमें वह व अन्य ब्राह्मण अपने शिष्य-परिवार सहित सम्मिलित हुए थे। आकाश से उड़ने वाले विमान देव-देवियां यज्ञ-स्थल के ऊपर से उड़कर जाने लगे। देव आगमन से इन्द्रभूति प्रसन्न होकर झूम उठा। वह कहने लगा- "देखो, मेरे मंत्रों का आह्वान देवता तक मेरे इस यज्ञ में विमानों में बैठ धरती पर आ रहे हैं।" पर शीघ्र ही देव यज्ञ-स्थल के ऊपर से आगे निकल गए। इन्द्रभूति गौतम का अहंकार समाप्त हो गया। उसने सोचा- जरूर कोई गड़बड़ है, कोई (इन्द्र जालिया) यज्ञ में विघ्न डाल रहा है। उसके इन्द्रजाल में देव भी आ गए हैं, जो यज्ञस्थल छोड़ दूसरी जगह जा रहे हैं। मुझे जल्दी ही उस इन्द्रजालिए का पता लगाना चाहिए और जनता को सतर्क करना चाहिए। मैं अभी उसके पास जाकर जनता के सामने उसकी पोल खोल दूंगा। इन्द्रभूति इस समय प्रभु महावीर से ८ वर्ष बड़े थे। बड़े सरल, भद्र प्रकृति के ब्राह्मण थे। उन्होंने वस्तु-स्थिति का पता लगाया तो पता चला कि राजकुमार वर्धमान अपने को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी मानता है। देवता उसके प्रवचन स्थल की ओर जा रहे हैं। वर्धमान के बारे में इन्द्रभूति गौतम ने समस्त सूचनाएं सोमिल ब्राह्मण से प्राप्त की थीं। वह यज्ञ-स्थल को छोड़ अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रभु महावीर के समवसरण में आए। जब रास्ते में आ रहे थे, तो वह सोच रहे थे- 'वह ऐसा कौन है जिसने देवताओं को भ्रम में डाल दिया है। ऐसे में यज्ञ थोड़ा चल सकता है? जिन-जिन देवताओं का आह्वान हम मंत्रों से यज्ञ में करते हैं, उन्हें बलि देते हैं, अन्न देते हैं, वे अन्यत्र घूमें, ये कैसे हो सकता है।'

फिर सोचा-'चलो! अब जाता हूं। देखता हूं, वह कैसे लोगों को वेद व यज्ञ से दूर करता है? उसका यह कदम तो समस्त ब्राह्मण धर्म व जाति के नियमों के विरुद्ध है। संसार में पहले तो कोई वेद और ब्राह्मण से विरोध करने वाला पैदा नहीं हुआ। मैं उसे उसके किए की सजा दूंगा।

पुनः गौतम इन्द्रभूति सोचने लगा- 'मैं उसके पास जा रहा हूं। उससे चर्चा तो होगी ही। पर अगर मैं चर्चा में हार गया तो उसका शिष्य बन जाऊंगा। अगर मैं जीत गया, तो उसे अपना शिष्य बना लूंगा। उसके सर्वज्ञता की परीक्षा तो करनी ही होगी।'

"धन्य है गौतम इन्द्रभूति के भाव, जो यह सोचते हैं कि मैं हारा तो उनका शिष्य बन जाऊंगा।" भगवान महावीर के सम्मुख जीत-हार का प्रश्न नहीं होता है। शिष्य की हार में ही उसकी जीत है। गौतम गौर वर्ण के आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे। गौतम स्वामी के कदम समवसरण की ओर बढ़े। समवसरण के अतिशय को देखते ही प्रभु महावीर के प्रति सारे संशय दूर हो गए, बचे थे मात्र प्रश्न। यह चर्चा वेद, ब्राह्मण, यज्ञ, अस्पृश्यता का अन्त करने वाली थी। प्रभु महावीर को शिष्य-परिवार की प्राप्ति

होने वाली थी। जैनधर्म में गणधर गौतम इन्द्रभूति का अपना स्थान है, उन्हें महावीर के बाद द्वितीय मंगल माना जाता है। लब्धियों व ऋद्धि-सिद्धि का भण्डार माना जाता है, उनके प्रश्न करने का ढंग कृष्ण-अर्जुन, बुद्ध-आनन्द जैसा है। उनकी विद्वत्ता हर शास्त्र में उनके द्वारा प्रभु महावीर से किए गए प्रश्नों से झलकती है। संसार में प्रश्न करना भी सहज नहीं है। प्रश्न वही कर सकता है, जिसे स्वयं ज्ञान है। प्राप्त ज्ञान पर श्रद्धा है, पर संशय के कारण ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा, अपने गुरू से संशय का समाधान विनयवान होकर करता है। जो प्रश्न का उत्तर पाकर संतुष्ट हो जाए तो वह ज्ञानी है, अगर श्रद्धा आने पर थोड़ा सा भी मिथ्यात्व का उदय हो जाए तो वह जीवनभर संशयवान रहेगा। संशयवान का पतन निश्चित है। इसलिए प्रश्न करना बुरा नहीं है। पर प्रश्न करने का ढंग गणधर गौतम जैसा होना चाहिए। तत्व के प्रति प्रश्न करना धर्म पर सम्यक्त्व को दृढ़ करता है। इन्द्रभूति गौतम ने समवसरण में प्रवेश किया तो प्रभु महावीर ने आते ही प्रश्न किया- ''गौतम! आ गए?'' अपना नाम प्रभु महावीर के मुख से सुनकर गौतम को आश्चर्य नहीं हुआ। वह सोचने लगे- 'इन्द्रभूति गौतम के नाम से तो हर कोई परिचित है। इस इन्द्रजालिया ने मेरा नाम पहले से सुन रखा है। मुझे अपना ज्ञान दिखाने के लिए इसने मुझे मेरे नाम से पुकारा है। वेद के ज्ञाता इन्द्रभूति को हर कोई जानता है। फिर आजकल मैं पावापुरी में सम्पन्न हो रहे यज्ञ में प्रमुख पुरोहित की भूमिका निभा रहा हूं। प्रमुख होने के कारण बच्चे-बच्चे की जीभ पर मेरा नाम है।'

इन्द्रभूति का अहंकार बढ़ता ही जा रहा था। इस अहंकार के कारण उसका ज्ञान समाप्त हो रहा था। प्रभु महावीर ने पुनः कहा- ''गौतम! अपने मन में वेदों के प्रति शंका लिए तुम मेरे पास आए हो। तुम्हें आत्मा के अस्तित्व के प्रति शंका है क्योंकि तुम मानते हो कि अगर आत्मा का अस्तित्व है तो वह छायादि पदार्थों की तरह प्रत्यक्ष क्यों नहीं? वह तो आकाशकुसुम की भांति सर्वथा अप्रत्यक्ष है। इसलिए इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।''[३]

इन्द्रभूति गौतम -''हां आर्य! मेरे मन में इस विषय के बारे में हमेशा शंका बनी रहती है। क्योंकि -

''विज्ञानघन ऐवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय नान्देवातु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।''[४]

यह वेद वाक्य भी इस बात का समर्थन करते हैं कि भूत समुदाय में चेतन पदार्थ उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। परलोक की कोई संज्ञा नहीं। भूत समुदाय से ही विज्ञानमय आत्मा की उत्पत्ति का अर्थ तो यही है कि भूत समुदाय के अतिरिक्त पुरूष (आत्मा) का अस्तित्व नहीं।''

प्रभु महावीर-''हे गौतम! दूसरी ओर तुम्हें यह भी पता है कि वेद से पुरूष का अस्तित्व सिद्ध होता है।''

इन्द्रभूति-''हे आर्य! मैंने यह श्रुति वाक्य पढ़ा है- ''स वै अयमात्मा ज्ञानमयः।''[५]

इसमें आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है। दोनों की परस्पर बातों में विरोधाभास झलकने के कारण मेरे मन में शंका बनी हुई है। क्योंकि 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुत वाक्य को प्रमाण मानकर भूत शक्ति को ही आत्मा माना जाए या आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाए।''

प्रभु महावीर- ''विज्ञानघन आदि का जैसा अर्थ आप लगा रहे हो, वैसा यह अर्थ नहीं है। तुम्हारे अर्थ से परस्पर विरोध झलकता है। पर विज्ञानघन- इस श्रुति वाक्य का अर्थ और ही है। तुम विज्ञानघन का अर्थ पृथ्वी आदि भूत समुदाय से उत्पन्न 'चेतना पिण्ड' ऐसा करते हो पर विज्ञानघन का यह अर्थ नहीं है। विज्ञानघन का तात्पर्य ज्ञान-पर्याय से है। आत्मा में प्रतिक्षण नवीन ज्ञान-पर्याय का आविर्भाव तथा भूतकालिक ज्ञान-पर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जैसे एक पुरूष घट को देखता है, उसका चिन्तन

करता है, तो उस समय उसकी आत्मा में घट-विषयक ज्ञानोपयोग होता है, जिसे हम घट विषयक ज्ञान पर्याय कहते हैं। जब वही पुरूष घट के पश्चात् पटादि अन्य पदार्थों को देखेगा तब उसे पटादि का ज्ञान होगा और पूर्वकालीन ज्ञान तिरोहित हो जाएगा। अन्यान्य पदार्थ-विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानधन (विविध पर्याय का पिण्ड) है, जो भूतों से उत्पन्न होते हैं। यहां भूत शब्द का अर्थ पृथ्वी आदि पंचभूत नहीं है। यहां इसका अर्थ प्रमेय है अर्थात पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ही नहीं परन्तु समस्त जड़ चेतन को ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ हैं।

सब ज्ञेय पदार्थ आत्मा में अपने स्वरूप में भासमान होते दिखाई देते हैं। घट-घट रूप में भासता (अनुभव) है, पट-पट रूप में भासता है। ये भिन्न-भिन्न प्रतिभास ही ज्ञान-पर्याय है। ज्ञान और ज्ञानी (आत्मा) ये कथंचित् अभेद होने के कारण भूतों से अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञेयों से विज्ञानधन अर्थात ज्ञान-पर्याय का उत्पन्न होना और उत्तरकाल में उनका तिरोहित होना कहा है।

'न प्रेत्य संज्ञास्ति' का अर्थ-'परलोक की संज्ञा नहीं है।' ऐसा अर्थ करना गलत है। वास्तव में इसका अर्थ है 'पूर्व पर्याय का उपयोग नहीं' है। जब पुरूष ने नए-नए ज्ञान-पर्याय उत्पन्न होते हैं तो पूर्वकालिक उपयोग तिरोहित हो जाने से उसकी स्मृति पर स्फुटित नहीं होते। इसी अर्थ को लक्ष्य रखकर न प्रेत्य संज्ञास्ति कहा गया है। इन्द्रभूति ने ज्यों ही इस वेद सूक्ति के अर्थ के वास्तविक अर्थ को सुना, उनका अज्ञान-अंधकार मिट गया। दोनों हाथ जोड़कर प्रभु महावीर से कहा- "प्रभु! आप मुझे निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या दीजिए। मैं आपकी वाणी सुनने को तरस रहा हूं।" प्रभु महावीर ने गणधर गौतम व ५०० विद्यार्थी शिष्यों को जीव, अजीव आदि तत्वों का उपदेश दिया। गौतम इन्द्रभूति तो प्रभु महावीर के प्रति समर्पित हो चुके थे। उन्होंने समर्पण का वह मापदण्ड स्थापित किया, जिसका उदाहरण अन्यथा दुर्लभ है।

इन्द्रभूति ने पुनः प्रभु महावीर से याचना की- "प्रभु! आप मुझे अपना शिष्य बनाने की अनुकम्पा करें।" इन्द्रभूति के साथ ही उनके ५०० शिष्य भी मुनि बन गए। इन्द्रभूति की प्रभु महावीर का शिष्य बनने की चर्चा जल में आग की तरह समस्त पावापुरी में फैल गई। गली, बाजार, चौराहे पर यह जन-चर्चा बन गई। सोमिल ब्राह्मण की यज्ञशाला के सभी ब्राह्मण घबरा गए। सबने एक सभा बुलाई, जिसमें तय हुआ कि जिस तरह भी हो सके उस तरह इन्द्रभूति गौतम व उनके विद्यार्थी को वर्द्धमान के इन्द्रजाल से निकाला जाए क्योंकि यह धर्म-रक्षा का प्रश्न था। उसी स्थान पर अनुष्ठान में इन्द्रभूति के दो भाई बैठे थे। पहले अग्निभूति का जोश उबाल खाने लगा कि एक ब्राह्मण कैसे एक क्षत्रिय को गुरू मान सकता है? यह तो वेद परम्परा के विरुद्ध है। अपने भाई को निकालने के लिए वह स्वयं प्रभु महावीर के समवसरण में गए।

वह अपने भाई को मुक्त कराने अपने शिष्यों के साथ चले। पर अग्निभूति नहीं जानते थे कि वह अपने भाई को मुक्त कराने नहीं जा रहा, वह तो स्वयं प्रभु महावीर के चरणों में समर्पित होने जा रहे हैं।

अग्निभूति के समाधान व प्रव्रज्या

अग्निभूति समवसरण में पहुंचे। दूर से अष्ट प्रातिहार्य देखे। उन प्रातिहार्यों को देखते ही उनकी प्रभु महावीर के प्रति अश्रद्धा श्रद्धा में बदल गई। जोश ठण्डा पड़ चुका था। वह सोचने लगे- 'यह तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व्यक्ति है। इसी कारण मेरा भाई अपने शिष्यों के साथ इनका शिष्य बन गया है।' फिर

अग्निभूति ने सोचा- 'अगर यह सचमुच सर्वज्ञ है तो यह मेरे मन की बात को प्रकट कर देगा। अगर ऐसा हुआ तो मैं इन्हें सर्वज्ञ मान लूंगा।' अग्निभूति प्रभु महावीर के द्वार पर आ पहुंचे। प्रभु महावीर ने उन्हें देखते ही प्रश्न किया-

"देवानुप्रिय! तुम्हारे मन में कर्म के अस्तित्व के बारे में शंका है?"

प्रभु महावीर की सर्वज्ञता का प्रमाण उन्हें मिल चुका था। अब पुनः प्रश्न करने का सवाल ही पैदा नहीं हो रहा था। अग्निभूति ने स्वीकार करते हुए कहा- "हां महाराज! कर्म के अस्तित्व के विषय में मेरी शंका है। क्योंकि कर्म प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध नहीं होता। इसलिए यह आकाश कुसुम की भांति अभाव रूप है।"

क्योंकि "पुरूष एवेदं .....।" यह श्रुति पुरूषाद्वैत का प्रतिपादन कर रही है। जब दृश्य-अदृश्य, बाह्य-आभ्यन्तर, भूत एवं भविष्य सब कुछ पुरूष ही है तो पुरूष के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है।

युक्तिवाद भी कर्म के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकता। कर्मवादी कहता है- "जीव पहले कर्म करता है, फिर उसका फल भोगता है। पर तर्क की कसौटी पर यह सिद्धान्त नहीं टिक सकता।" 'जीव' नित्य, अरूपी और चेतन माना जाता है। और कर्म अनित्य, रूपी और जड़। इन परस्पर विरोधाभास में जीव और कर्म का सम्बन्ध कैसे माना जाए, सादि या अनादि?

जीव और कर्म का सम्बन्ध 'सादि' मानने का अर्थ होगा कि यह (आत्मा) पहले कर्मरहित था और अमुक काल में कर्म का संयोग बाद में हुआ। यह मान्यता कर्म सिद्धान्त के विपरीत है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार जीव की मन, वचन, काया की प्रवृत्तियां कर्मबन्ध का कारण हैं। यह कर्म संयोग का कारण है। मन, वचन, काय से स्वयं कर्मफल हैं। क्योंकि पूर्वकृत कर्म से ही मन आदि तत्वों की प्राप्ति जीव को होती है। इस दशा में 'अबद्ध'जीव किसी भी प्रकार से बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उसके पास बंधन का कारण नहीं है। यदि बिना कारण ही कर्मबन्ध मान लिया जाए तो कर्म मुक्त सिद्ध आत्माओं को भी पुनः कर्मबद्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार कर्मवादियों का मोक्ष नाममात्र रह जाएगा। वस्तुतः कोई भी आत्मा 'मुक्त' नहीं ठहरेगा। अतः अबद्ध जीव का बन्ध मानना दोषयुक्तिपूर्ण है। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि जीव कर्म सम्बन्ध अनादि होगा तो आत्म-नित्य भी होगा। और नित्य पदार्थ का कभी नाश न होने से वह कभी कर्म-मुक्त नहीं होगा। जब जीव की कर्म से मुक्ति नहीं तो वह इसलिए प्रयत्न क्यों करेगा?

प्रभु महावीर- "अग्निभूति! तुमने जो शंका प्रस्तुत की है उससे लगता है कि तूने 'वेद वाक्य' के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा। 'पुरूषं खल्वेदं' यह श्रुति वाक्य 'पुरूषाद्वैत' का साधक नहीं, परन्तु यह एक स्तुति वाक्य है।"

अग्निभूति- इस श्रुति वाक्य को स्तुति वाक्य क्यों माना जाए, पुरूषाद्वैत साधक क्यों न माना जाए?"

प्रभु महावीर- पुरूष अद्वैतवाद दृष्टि अपलाप और अदृश्य कला दोषों से दूषित है।"

अग्निभूति- "आपका कथन कैसे सत्य है?"

प्रभु महावीर- "पुरूषाद्वैत के स्वीकार में पृथ्वी,पानी, अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों का अपलाप होता है। सत्-असत् में विलक्षण "अनिर्वचनीय" नामक एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है।"

अग्निभूति- "आर्य! इस सिद्धान्त में कल्पना की कोई बात नहीं, क्योंकि पुरूषाद्वैतवादी इस दृश्य जगत को पुरूष से अभिन्न मानते हैं। जड़-चेतन का भेद तो कल्पना मात्र है। वस्तुतः जो कुछ दृश्यादृश्य

और चराचर पदार्थ हैं सब पुरूष रूप हैं।''

महावीर- ''पुरूष दृश्य है या अदृश्य?''

अग्निभूति- पुरूष रूप,रस, गंध और स्पर्शहीन अदृश्य है। यह इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता। कहा भी है- ''सर्वस्याऽस्व वासतः।''

प्रभु महावीर- ''वे पदार्थ कौन से हैं, जो इन्द्रियों द्वारा देखे-सुने जा सकते हैं, सूंघे जा सकते हैं, चखे जा सकते हैं, स्पर्श किये जा सकते हैं।''

अग्निभूति- ''यह सब नामरूपात्मक जगत् है।''

प्रभु महावीर- ''क्या यह पुरूष से भिन्न है या अभिन्न हैं?''

अग्निभूति- ''यह सब पुरूष से अभिन्न हैं।''

प्रभु महावीर- ''अभी तूने कहा था कि पुरूष अदृश्य है, इन्द्रियातीत है। इस 'पुरूषाभिन्न' नाम रूपात्मक जगत् को इन्द्रियों से देखा जा रहा है?''

अग्निभूति- ''इस जगत् की भी उत्पत्ति माया से होती है। माया तथा उसका कार्य नाम रूप सत् नहीं है क्योंकि कालांतर में उसका नाश हो जाता है।''

प्रभुमहावीर- ''तो क्या यह दृश्य जगत् असत् है?''

अग्निभूति- ''नहीं! जैसे यह सत् नहीं वैसे असत् भी नहीं। क्योंकि ज्ञानकाल में यह सतरूप भासित होता है।''

प्रभु महावीर- ''सत् भी नहीं, असत् भी नहीं तब इसे क्या कहेंगे?''

अग्निभूति- ''सत्असत् से विलक्षण इस माया को हम अनिर्वचनीय कहते हैं।''

प्रभु महावीर- ''अतः तुम्हें पुरूष के अतिरिक्त 'माया' नामक विलक्षण तत्व को मानना पड़ा। तब कहां रहा, तुम्हारा पुरूषाद्वैतवाद? प्रिय! जरा सोचो, यह दृश्य पदार्थ पुरूष से अभिन्न कैसे हो सकता है? यह दृश्य जगत् यदि 'पुरूष' ही हो तो 'पुरूष' की ही तरह इन्द्रियातीत होना चाहिए। तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि यह इन्द्रियगोचर है। प्रत्यक्ष दर्शन को तुम भ्रान्ति नाम नहीं दे सकते।''

अग्निभूति- ''भंते! इसे भ्रान्ति मानने में क्या आपत्ति है?''

प्रभु महावीर- ''भ्रान्ति ज्ञान उत्तरकाल में भ्रांत सिद्ध होता है। जिसे तुम भ्रांत कहते हो, वह कभी भ्रांत सिद्ध नहीं होता। यह निर्बाध ज्ञान है, भ्रान्ति नहीं।''

अग्निभूति- ''यह माया पुरूष की ही शक्ति है और पुरूष विवर्त में नाम रूपात्मक जगत् बनकर भासमान होता है। वस्तुतः माया पुरूष से भिन्न नहीं।''

प्रभु महावीर- ''यदि माया पुरूष की शक्ति ही है, तो यह भी पुरूष के ज्ञानादि गुणों की तरह अरूपी होनी चाहिए। परन्तु यह तो दृश्य है अतः सिद्ध होता है कि माया पुरूष की शक्ति नहीं, यह स्वतन्त्र पदार्थ है।''

पुरूषविवर्त मानने से भी पुरूषाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि पुरूषविवर्त का अर्थ है- ''पुरूष के मूल स्वरूप की विकृति।'' परन्तु पुरूष में विकृति मानने से उसे सकर्मक ही मानना पड़ेगा, अकर्मक नहीं। जिस प्रकार खालिस पानी में खमीर नहीं उत्पन्न होता, उसी तरह अकर्म जीव में विवर्त नहीं हो सकता।

पुरूषवादी जिस पदार्थ को माया अथवा अज्ञान का नाम देते हैं वह वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त जड़ पदार्थ है। पुरूषवादी इसे सत् या असत् न कहकर अनिर्वचनीय कहते हैं जिससे सिद्ध होता है कि यह

पुरुष से भिन्न पदार्थ है। इसलिए तो वह इसे पुरुष की तरह सत् नहीं मानते। असत् न मानने का अर्थ केवल यह ही है कि यह माया आकाशद्रव्य की तरह कल्पनीय वस्तु नहीं है।

अग्निभूति -"भंते! ठीक है। दृश्य जगत को पुरुषमात्र मानने से प्रत्यक्ष के अनुभव का निर्वाह नहीं हो सकता। परन्तु जड़ तथा रूप कर्म द्रव्य चेतना तथा अरूपी आत्मा के साथ कैसे संबंध हो सकता है और अच्छा बुरा असर कैसे डाल सकता है?"

प्रभु महावीर- "जिस प्रकार अरूपी आकाश के साथ रूपी द्रव्यों का सम्पर्क होता है उसी तरह अरूपी आत्मा का रूपी कर्मों के साथ संबंध होता है। जैसे मदिरा बुरा असर डालती है, ब्राह्मी औषधि शुभ। उसी तरह अरूपी चेतन आत्मारूपी जड़ चेतन पर भला बुरा असर डालते हैं।"

संसार में हम जो विभिन्नताएं देखते हैं। सुख-दुःख देखते हैं उसके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है। तुम कर्म को प्रत्यक्ष नहीं देख सकते किन्तु अनुमान से सिद्ध कर सकते हो। सुख-दुःख रूप कर्मफल को तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। उससे उसके कारण रूप कर्म का अनुमान भी किया जा सकता है। सुख-दुःख का कोई अवश्य कारण होना चाहिए। चूंकि वह कार्य है, जिस प्रकार अंकुर रूप कार्य का हेतु बीज है उसी प्रकार सुख-दुःख रूप कार्य का जो हेतु है वह कर्म है।[६]

दृष्ट कारण में जो व्यभिचार दिखाई देता है। अतः अदृष्ट कारण मानना जरूरी है क्योंकि सुख-दुःख के दृष्ट कारणों के समान रूप से रहने पर उनके कार्य में जो तारतम्य दिखाई देता है, वह निष्कारण नहीं हो सकता। इसका जो कारण है वही कर्म है।[७]

हम जो भी दान आदि क्रिया करते है उसका कोई फल अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह सचेतन व्यक्ति कृत क्रिया है जिस प्रकार खेती, दान आदि क्रिया का जो फल है वही कर्म है। अग्निभूति! क्या तुम नहीं जानते कि मन की शांति भी एक प्रकार की क्रिया ही है। इसलिए सचेतन को अन्य क्रियाओं के समान ही उसका भी मानना कर्मफल है। इससे सुख-दुःख आगे चलकर पुनः हमारे अनुभव में आते हैं। स्थूल शरीर भूत है पर उसका आत्मा से संबंध प्रत्यक्ष देखते हैं। इसी तरह एक भव से दूसरे भव में जाते हुए जीव का कार्मण शरीर से संबंध होना ही चाहिए, नहीं तो नवीन स्थूल शरीर ग्रहण कदापि संभव नहीं है।

अग्निभूति ने कहा- "यदि ईश्वरादि को जगत वैचित्र्य का कारण मान लें तो कर्म की आवश्यकता नहीं है?"

प्रभु महावीर ने इसका समाधान करते हुए कहा- कर्म की संज्ञा मानकर मात्र शुद्ध जीव को ही देह आदि की विचित्रता का कर्त्ता माना जाए या ईश्वर आदि को इसका कर्त्ता-निर्माता माना जाए तो हमारी पूर्वकथित सभी मान्यताएं असंगत सिद्ध होंगी, क्योंकि शुद्ध जीव या ईश्वर आदि को कर्म साधन की अपेक्षा नहीं है। वह शरीरादि का आरम्भ ही नहीं कर सकता। चूंकि उसके पास आवश्यक उपकरणों का अभाव है। जिस प्रकार कुम्हार बिना डंडे के चाक नहीं घुमा सकता, न ही बर्तन का निर्माण कर सकता है उसी प्रकार ईश्वर कर्म आदि साधनों के अभाव में शरीर आदि (निर्माण नहीं कर सकता) इसी तरह निश्चेष्ट, अमूर्त्तता आदि हेतुओं से ईश्वर के कर्त्ता का खण्डन होता है।

इस प्रकार प्रभु महावीर ने अग्निभूति के पहले संशय का निवारण किया। उसे श्रुति वाक्य के अर्थ का ठीक ज्ञान कराया। फिर इसे जैनधर्म के अनुसार कर्म के अस्तित्व को सरल ढंग से समझाया।

अग्निभूति भी अपने बड़े भ्राता इन्द्रभूति की तरह प्रभु महावीर के आगे समर्पित हो गए। अपने विद्यार्थी-परिवार सहित महावीर से दीक्षा ग्रहण की। जब इन्द्रभूति व अग्निभूति के साधु बनने की सूचना

यज्ञ-मंडप में पहुंची, वायुभूति तत्क्षण प्रभु महावीर के समवसरण में पहुंचे। वह जब चले तो सोचने लगे- 'पता नहीं! क्या बात है? उस वेद विरोधी श्रमण में, जिसने मेरे दोनों भ्राताओं को अपना शिष्य बना लिया है। लगता है, जरूर उसके पास कुछ सत्य है। मेरे भ्राता इतने अज्ञानी तो नहीं है। अगर वह मेरी शंका दूर कर सका, तो मैं भी उनका शिष्य बन जाऊंगा? वह भी प्रभु महावीर के ज्ञान-वैराग्य की परीक्षा लेने महासेन उद्यान में पहुंच गए।

वायुभूति की धर्मचर्चा और प्रव्रज्या

इन्द्रभूति और अग्निभूति के अपने शिष्य सहित प्रव्रजित होने के समाचार सुनकर वायुभूति समोसरण में पहुंचा। वायुभूति को संबोधित करते हुए प्रभु महावीर कहा- ''वायुभूति! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जीव और शरीर एक ही हैं या पृथक हैं। तुम्हें वेद-वाक्यों का सही अर्थ ज्ञात नहीं, इसलिए तुम्हें इस प्रकार का संदेह हो रहा है।''

तुम्हारी मान्यता है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे मदिरा पैदा करने वाली भिन्न वस्तुओं से मद शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती तथापि उनके समुदाय से मद शक्ति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि किसी भी पृथक भूत में चैतन्य शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती तथापि उसके समुदाय से सद्शक्ति पैदा होती है और कुछ समय तक स्थिर रहकर उसके पश्चात् कालान्तर के विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर फिर से नष्ट हो जाती है। इसी तरह भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और कुछ समय तक विद्यमान रहने पर उसके पश्चात् विनाश की सामग्री मिलने पर फिर से नष्ट हो जाता है इसलिए पदार्थ में मद शक्ति का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए।[८]

इस चर्चा को सुन वायुभूति ने पुनः प्रश्न किया-

''आर्य! मैं अब भी ऐसा समझता हूं कि शरीर से भिन्न कोई जीव की सत्ता नहीं है। क्योंकि विज्ञानधन इत्यादि श्रुति वाक्य भी यही प्रतिपादन करता है कि यह ज्ञानात्मक है 'आत्म पदार्थ' इस भूतों से प्रकट होता है, इन्हीं में विलीन हो जाता है। पूर्वजन्म जैसा कोई भाव नहीं है।''

प्रभु महावीर- ''मैं आपके भूत समुदाय की मान्यता का पहले ही स्पष्टीकरण कर चुका हूं। रही बात श्रुति वाक्य की, वेदों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है- ''सत्येन लभ्यस्तपसा ह्योष आत्मा इत्यादि श्रुति वाक्य से आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करते हैं।''

वायुभूति- ''प्रभु! यदि यह मान भी लें कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति होती है तो भी भूतों के अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण क्या है?''

प्रभु महावीर- मैं तुम्हें आत्मा की सिद्धि के लिए अपना पक्ष प्रस्तुत करता हूं-

(१) जिस प्रकार पांच झरोखे से भिन्न स्वरूप देवदत्त का धर्म चैतन्य है। उन झरोखों को देखने वाला देवदत्त एक ही है। झरोखे पांच हैं। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों से ग्रहण किए पदार्थ का स्मरण करने वाला इन्द्रियों से भिन्न कोई न कोई तत्व अवश्य होना चाहिए। इसी तत्त्व का नाम आत्मा या जीव है। यदि इन्द्रियों को उपलब्धिकर्त्ता मान लिया जाता है, तो सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इन्द्रिय-व्यपार के बन्द होने या विनाश होने पर भी इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तु का स्मरण होता है। कभी-कभी इन्द्रिय व्यापार का अस्तित्व में भी अन्य मनस्क को वस्तु का ज्ञान नहीं होता। इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी वस्तु